

^Ekk. MId; ksi fu"kn~ eā prq̄i kn vkRek dk Lo: i \*\*

Mk-W uhye feJk

सहायक प्रोफेसर, दर्शन शास्त्र विभाग  
पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार

'kks/kl kj : माण्डूक्यापनिषद् में आगम वैतथ्य अद्वैत तथा अलात"ाति नामक चार-प्रकरण हैं। आगम प्रकरण में चतुष्पाद आत्मा के स्वरूप का विवेचन करके ओंकारोपासना का वर्णन किया गया है। आत्मा शरीर में स्थित होने पर (अविद्या से आवृत होने पर) जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का अनुभव करता है जाग्रत अवस्था में यह विश्व कहलाता है जिसका उपलब्धि स्थान दक्षिणाक्षि है यह इन्द्रियों के माध्यम से सम्पूर्ण बाह्य वस्तुओं का उपभोग करता है इसलिए इसे बहिष्प्रज्ञ भी कहते हैं। स्वप्नावस्था में यही तैजस कहा जाता है जिसका उपलब्धि स्थान मन कहा गया है। मन के संकल्प विकल्प ही स्वप्न के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इस अवस्था में इन्द्रियां क्रियाहीन होती हुई अन्तर्मुखी हो जाती है और एकमात्र मन ही क्रिया"ील रहता है। इस अवस्था में तैजस अन्तःस्थित विषयों का अनुभव करता है अतएव इसे अन्तःप्रज्ञ कहा जाता है। सुषुप्तावस्था में इसी तैजस को प्राज्ञ कहा जाता है इस अवस्था में मन इत्यादि इन्द्रियां उपरान्त को प्राप्त हो जाती हैं। प्राज्ञ सुषुप्तावस्था में दुःख, सुख, स्थूल पदार्थ, कामना स्वप्न आदि कुछ भी अनुभव नहीं करता। अतएव इसे धनप्रज्ञ भी कहा जाता है, जिसका उपलब्धि स्थान हृदय कहा जाता है। स्थूल विषयों का भोग करने का कारण वि"व को अविविक्तभुक् तैजस को प्रतिविक्तभुक् तथा प्राज्ञ को आनन्द का अनुभव करने के कारण आनन्दभुक् कहा जाता है परन्तु आत्मा इन तीनों अवस्थाओं से परे रहता है इसलिए इसे तुरीय शब्द से इंगित किया गया है। जहाँ जन्म-मरण, जरा रूपी संसार चक्र, त्रिविध दुःख, तथा द्वैत भाव का अभाव होता है, वही तुरीय आत्म-तत्त्व है। अनादि माया से जागने पर ही जीव को यह अवस्था प्राप्त होती है।

dM' kCn: आत्मा, चतुष्पाद-आत्मा, परमतत्त्व, ओंकार, ब्रह्म, पाद, मात्रा, अमात्र जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, विश्व, प्राज्ञ, तैजस, अन्तःप्रज्ञ बहिष्प्रज्ञ धनप्रज्ञ, सर्वज्ञ, अनतर्यामी चेतना, अधिष्ठान, प्रपंच, निष्प्रपंच।

i Lrkouk:

आत्मा और ब्रह्म के सम्बंध और स्वरूप की व्याख्या प्राचीन से लेकर अर्वाचीन भारतीय दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण और प्रिय विषय रहा है। दोनों को चरम तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। आत्मा और ब्रह्म दोनों को ही 'l fPpnkun\*' (ब. स. शा. भा. 3/1/18) 'l R; e- Kkue- vulre\*' [r] m] 2@1% 'l R; e- f' koe- l [n] je\* (ब. स. शा. भा. 3/1/18) माना गया है। दोनों के आनंदमय स्वरूप पर जोर दिया गया है व दोनों को सभी प्रकार के ज्ञान का आधार बताया गया है। उपनिषदों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आत्मा और ब्रह्म का वर्णन समानान्तर चलता है। आत्मा के जाग्रत अवस्था के तुल्य ब्रह्म का विराटरूप, स्वप्नावस्था के अनुरूप हिरण्यगर्भ रूप, सुषुप्ति के सदृश ईश्वर रूप और आत्मा की तुरीयावस्था के अनुरूप पर ब्रह्म रूप है। [ek] m] 1@1&6% ब्रह्म को प्रणव, ओंकार [ek] m] 1@1% आदि नामों से अभिहित किया गया है तथा इसे rRoefl [Nk] m] 6@8@7% vga cgekflE [C] m] 1@4@10% इत्यादि महावाक्यों के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

आचार्य गौड़पाद के अनुसार परमतत्त्व ब्रह्म या आत्मा है। परमतत्त्व नित्य विशुद्ध चैतन्यस्वरूप, नित्य विज्ञानस्वरूप, नित्य और अखण्ड आनंद स्वरूप है। यह अतीन्द्रिय निर्विकल्प, अनिर्वचनीय, अवांगमनोगोचर अपरोक्षानुभूतिस्वरूप है। यह प्रपंचातीत या निष्प्रपंच है। यह अविकारी, अपरिणामी, कूटस्थ और नित्य है। [ek] m] 1@12% यह अमात्र और तुरीय है। यह समस्त प्रपंच का अधिष्ठान है एवं समस्त ज्ञान का अधिष्ठान होने के कारण स्वतः सिद्ध तथा स्वप्रकाश है। यह विशुद्ध साक्षीचैतन्य है। वह अपनी माया शक्ति से जगत्प्रपंच तथा बद्ध जीवों के रूप में प्रतीत होता है। विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय, चेतन जीव और जड़ जगत् इसी आत्म-तत्त्व के माया कल्पित आभास हैं। ये सब सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या हैं। परमार्थ में प्रपंचोपशम शिव अद्वैत आत्म-तत्त्व ही सत् है। प्रणव या ओंकार इसका प्रतीक है और स्वयं ब्रह्मस्वरूप है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इसी आत्मा से प्रकाशित हैं और आत्मा उनके पार तुरीय एवं अमात्र है। जाग्रत में ब्रह्म को विषयों का तथा मनोभावों का अनुभव होता है, स्वप्न में मन कल्पित विषयों का अनुभव करता है, सुषुप्ति में किन्ही विषयों का अनुभव नहीं रहता-न बाह्य और न मानस, सुषुप्ति में मन अविद्या में लीन हो जाता है, इसलिए सुषुप्ति में सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। सुषुप्ति की अवस्था अज्ञान या आवरण की अवस्था है। जाग्रत और स्वप्न में आवरण और विक्षेप दोनों रहते हैं किन्तु तुरीय में शुद्ध ज्ञान और आनन्द प्रकाशित होता है।

Ek. MD; ki fu"kn- eā prāi kn vkRek dk Lo: i :

आचार्य गौड़पाद कृत माण्डूक्यकारिका के चार प्रकरणों में आगम प्रकरण प्रथम है। इस प्रकरण में ओंकार के स्वरूप का वर्णन किया गया है। यह आगम प्रधान और आत्म-तत्व की प्राप्ति का उपाय-भूत है। रस्सी में सांप आदि विकल्प की निवृत्ति होने पर जिस प्रकार रज्जू (रस्सी) के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार द्वैत-प्रपंच की निवृत्ति होने पर अद्वैत-तत्व का बोध होता है।

सर्प आदि विकल्प की अधिष्ठानभूत रस्सी आदि के समान ही प्राण आदि विकल्प को विषय करने वाला सम्पूर्ण वाग्विलास ओंकार ही है। और वह ओंकार आत्मा का प्रतिपादन करने वाला होने के कारण उसका स्वरूप ही है। ओंकार के विकाररूप शब्दों के प्रतिपाद्य आत्मा के विकल्प रूप समस्त प्राणादि भी अपने प्रतिपादक शब्दों से भिन्न नहीं हैं, जैसा कि श्रुति कहती है:— okpkj EHK. ka fodkj ks uke/ks e <sup>¶NKj m† 6@1@4%</sup> अर्थात् विकार केवल वाणी का विलास और नाम-मात्र है। इसीलिए उपनिषद् कहता है कि ऊँ ही सब कुछ है, ऊँ ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान है उसी की व्याख्या है, इसलिए यह सब ओंकार ही है। इसके सिवा जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु है वह भी ओंकार ही है— ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्यक्ष्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। ; PpkJ; fR=dkykrhira rnl; kdkj , oAA <sup>¶ekj m† 1@1%</sup>

यह अभिधेय रूप जितना पदार्थ समूह है वह अपने अभिधान से अभिन्न होने के कारण और सम्पूर्ण अभिधान भी अभिन्न होने के कारण यह सब कुछ ओंकार ही है। पर ब्रह्म भी अभिधान – अभिधेय (वाच्य-वाचक) रूप के द्वारा ही जाना जाता है, इसलिए यह भी ओंकार ही है।

भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालों से जो कुछ परिच्छेद्य है वह भी उपर्युक्त न्याय से ओंकार ही है। इसके सिवा जो तीनों कालों से परे, अपने कार्य से ही विदित होने वाला और काल से अपरिच्छेद्य अव्याकृत आदि है वह भी ओंकार ही है। वाचक और वाच्य का अभेद होने पर भी वाचक की प्रधानता से ही ऊँ अक्षर ही सब कुछ है। वाचक की प्रधानता से निर्दिष्ट वस्तु का, फिर वाच्य की प्रधानता से किया हुआ निर्देश वाचक और वाच्य का एकत्व प्रतिपादन करने के लिए है, अन्यथा वाच्य की प्रतिपत्ति वाचक के अधीन होने के कारण वाच्य का वाचक रूप होना गौड़ ही होना – ऐसी आशंका हो सकती है। किन्तु वाच्य (ब्रह्म) और वाचक (ओंकार) के एकत्व प्रतिपत्ति का तो यही प्रयोजन है कि उन दोनों को एक ही प्रयास से एक साथ लीन करके उनसे विलक्षण ब्रह्म को प्राप्त किया जाय। ऐसा ही पादा mk=k मात्राश्च पादा: <sup>¶ekj m† 1@2%</sup> अर्थात् पाद ही मात्रा है और मात्रा ही पाद है। इसी बात को उपनिषद् इस प्रकार कहती है: यह सब ब्रह्म ही है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। और यह आत्मा चार पादों (अंशों) वाला है— l oā ārn- cāk; kRek cge- सोयमात्मा चतुष्पात् ॥ <sup>¶ekj m† 1@12%</sup>

यह सब ब्रह्म ही है। अर्थात् यह सब जो ओंकार मात्रा कहा गया है, ब्रह्म है। अब तक परोक्ष रूप से बतलाते हुए उस ब्रह्म का विशेषरूप से प्रत्यक्षतया 'यह आत्मा ब्रह्म है' ऐसा कहकर निर्देश करते हैं। किन्तु यहाँ 'अयम्' शब्द द्वारा चतुष्पाद रूप से विभक्त किये जाने वाले आत्मा को अपने अन्तरात्म स्वरूप से अभिनय (अंगुलि-निर्दे"ी) पूर्वक ^v; ekRek cā\* <sup>¶NKj m† 6@8@16%</sup> ऐसा कहकर बतलाते हैं। ओंकार नाम से कहा जाने वाला तथा पर और अपर रूप से व्यवस्थित यह आत्मा कार्षापण (किसी देश वि"ीष में प्रचलित सिक्के का नाम कार्षापण है। यह सोलह पण का होता है। जिस प्रकार रूपये में चार चवन्नी अथवा शेर में चार पौंवे होते हैं उसी प्रकार आत्मा में चार पाद माने गये हैं) के समान चार पाद (अंश) वाला है, गौ के समान नहीं। विश्व आदि तीन पादों में से क्रमशः पूर्व-पूर्व का लय करते हुए अन्त में तुरीय ब्रह्म की उपलब्धि होती है। अतः पहले तीन पादों में 'पाद' शब्द कारण वाच्य है और तुरीय में जो प्राप्त किया जाय' इस प्रकार कर्म – वाच्य है।

आत्मा किस प्रकार चार पादों (अं"ी) वाला है— वि"व, तैजस, प्राज्ञ तथा तुरीय आत्मा के इन चारों पादों का वर्णन इस रूप में किया गया है:

vkRek dk i fke i kn& ^o\$ okuj\* %

जाग्रत्- अवस्था जिस (की अभिव्यक्ति) का स्थान है, जो वहि:प्रज्ञ (वाहय विषयों को प्रकाशित करने वाला) सात अंगो वाला, उन्नीस मुखों वाला और स्थूल विषयों का भोक्ता है वह वै"वानर पहला पाद (अं"ी) है—tkxfj rLFkkuks बहिष्प्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ <sup>¶ekj m0 1@3%</sup>

जाग्रत् अवस्था जिसका स्थान है उसे जागरित स्थान कहते हैं। जिसकी अपने से भिन्न विषयों में प्रज्ञा है उसे वहिष्प्रज्ञ कहते हैं। जिसकी अविद्याकृत बुद्धि बाह्य विषयों से सम्बद्ध – सी दिखाई देती है। इसी प्रकार जिसके सात अंग हैं अर्थात् उस वै"वानर आत्मा का द्यूलोक "ीर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, आका"ी मध्य स्थान (देह) है, अन्न (अन्न का कारण रूप जल) ही मूत्र स्थान है और पृथ्वी ही चरण है। <sup>¶NKj m† 5@18@2%</sup> इस श्रुति के अनुसार अग्नि होत्र कल्पना में अंगभूत होने के कारण आहवनीय अग्नि उसके मुख रूप से बतलाया गया है। इस प्रकार जिसके सात अंग हैं उसे ही सप्तांग कहते हैं।

जिसके उन्नीस मुख हैं, दस ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राणादि वायु, तथा मन, बुद्धि अहंकार और चित्त – ये जिसके मुख अर्थात् उपलब्धि के द्वार हैं, ऐसे वि"ीषणों वाला वै"वानर उपर्युक्त द्वारों से शब्द आदि स्थूल विषयों को

भोगता है इसलिए वह स्थूलभुक् है। सम्पूर्ण नरों को (अनेक प्रकार की योनियों में) नयन (वहन) करने के कारण वह 'वै'वानर' कहलाता है, अथवा वह वि'व (समस्त) नररूप है इसलिए वि'वानर है। समस्त देहों से अभिन्न होने के कारण वही पहला पाद है। परवर्ती पादों का ज्ञान पहले इसका ज्ञान होने पर ही होता है, इसलिए यह प्रथम है।

vkRek dk f}rh; i kn&^rstl \* %

अब आत्मा के द्वितीय पाद (अं'ी) तैजस की वि'षता उपनिषद् बताती है कि स्वप्न जिसका स्थान है तथा जो अन्तःप्रज्ञ, सात अंगोवाला, उन्नीस मुखोंवाला और सूक्ष्म विषयों का भोक्ता है वह तैजस (इसका) दूसरा पाद है—**अन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशति मुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीय पादः।।**

स्वप्न इस तैजस का स्थान है इसलिए यह स्वप्न स्थान वाला (कहा जाता) है। अनेक साधनवती जाग्रत् कालीना बुद्धि मन का स्फुरण—मात्र होने पर भी ब्रह्म – विषय से सम्बन्धित सी प्रतीत होती हुई मन में वैसा ही संस्कार उत्पन्न करती है। चित्रित वस्त्र के समान इस प्रकार के संस्कारों से युक्त हुआ वह मन अविद्या कामना और कर्म के कारण ब्रह्मसाधन की अपेक्षा के बिना ही प्रेरित होकर जागता सा दिखाई देने लगता है। इसीलिए कहा गया है **^VL; ykdL; l okbrks ek=kei knk; \*\*** अर्थात् इस सर्वसाधन सम्पन्न लोक के संस्कार ग्रहण करके स्वप्न देखता है। तथा **^i js nos euL; xdh Hkofr\*\*** अर्थात् परम् (इन्द्रियादि से उत्कृष्ट) देव (प्रकाशन"ील) मन में एक रूप हो जाती है। इस प्रकार प्रस्तावना कर कहा है **^v=\$k nD% Lolus efgeku&euHkofr\*\*** अर्थात् यहाँ स्वप्नावस्था में यह देव अपनी महिमा का अनुभव करता है।

शंकराचार्य के अनुसार अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा मन अधिक अन्तःस्थ है, स्वप्न की अवस्था में जिसकी प्रज्ञा (बुद्धि) उस (मन) की वासना के अनुरूप रहती है उसे अन्तःप्रज्ञ कहते हैं, वह अपनी विषय शून्य और केवल प्रका"ी रूप प्रज्ञा का विषयी (अनुभव करने वाला) होने के कारण 'तैजस' कहा जाता है। वि'व बाह्यविषययुक्त होता है, इसलिए जागरित अवस्था में स्थूलप्रज्ञा उसकी भोज्य है किन्तु तैजस के लिए केवल वासनामात्र प्रज्ञा भेजनीया है, इसलिए इसका भोग सूक्ष्म है। इस प्रकार यह तैजस ही आत्मा का दूसरा पाद है।

vkRek dk r}rh; i kn&^i kK\* %

अब आत्मा के तीसरे अं'ी (तृतीय पाद) प्राज्ञ के विषय में आचार्य ने कहा है कि जिस अवस्था में सोया हुआ पुरुष किसी भोग की इच्छा नहीं करता और न ही कोई स्वप्न ही देखता है उसे सुषुप्ति कहते हैं। वह सुषुप्ति जिसका स्थान है तथा जो एकभूत प्रकृष्ट ज्ञान स्वरूप होता हुआ ही आनन्दमय, आनन्द का भोक्ता और चेतनारूप मुख वाला वह ही तीसरा पाद अं'ी है; = **l {rks u dpu dk; a dke; rs u dpu Lolua i ' ; fr rRl {kqreA l {kqrlFkku , dhHkr% i kku?ku , okulne; ks ákuln HkDprkeq[k% i kKLr}rh; % i kn%AA**

इस सन्दर्भ में शंकराचार्य का विचार है (भा. का. शा. भा. 1/5) कि जहाँ यानि जिस स्थान अथवा समय में सोया हुआ पुरुष न कोई स्वप्न देखता है और न किसी भोग की ही इच्छा करता है, क्योंकि— सुषुप्तावस्था में पहली दोनों अवस्थाओं के समान अन्यथा ग्रहण रूप स्वप्नद"ीन अथवा किसी प्रकार की कामना (इच्छा) नहीं होती, यह सुषुप्त अवस्था ही जिसका स्थान है उसे सुषुप्तस्थान कहते हैं।

जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार से दिन का प्रका"ी ढँक (आच्छादित) जाता है उसी प्रकार पूर्वोक्त दोनों (वि'व और तैजस) स्थानों में विभिन्न रूप से प्रतीत होने वाला मन का स्फुरण रूप द्वैत समूह (इस अवस्था में) प्रपंच के सहित अपने उस (वि'षा) स्वरूप का त्याग न कर अज्ञान से ढँक जाता है इसलिए इसे 'एकीभूत' ऐसा कहा जाता है। अतः जिस अवस्था में स्वप्न और जाग्रत – ये मन के स्फुरण रूप प्रज्ञान घनीभूत हो जाते हैं, वहीं यह अवस्था अविबेक रूपा होने के कारण प्रज्ञान धन कही जाती है। जिस प्रकार रात्रि में रात्रि के अन्धकार से पृथक्त्व की प्रतीति न होने के कारण सम्पूर्ण प्रपंच घनीभूत सा मालूम पड़ता है उसी प्रकार यह प्रज्ञानधन ही है। 'एव' शब्द से यह तात्पर्य है कि उस समय प्रज्ञान के सिवा कोई अन्य जाति नहीं रहती।

मन का जो विषय और विषयी—रूप से स्फुरित होने के आयास का दुख है उसका अभाव होने के कारण यह आनन्दमय अर्थात् आनन्द बहुल है, केवल आनन्द मात्र ही नहीं है, क्योंकि इस अवस्था में आनन्द की आत्यान्तिकता नहीं है, जिस प्रकार लोक में अनायास रूप से स्थित पुरुष सुखी या आनन्द का भोग करने वाला कहा जाता है उसी प्रकार क्योंकि इस अवस्था में यह आत्मा इस अत्यन्त अनायास रूप और स्थिति का अनुभव करता है, इसलिए यह आनन्दभुक् कहा जाता है जैसा कि **^, "kkl; i je vkuln% \*\*** अर्थात् यह इसका परम आनन्द है, इस श्रुति से स्पष्ट होता है।

स्वप्न आदि ज्ञानरूप चेतना के प्रति द्वार स्वरूप होने के कारण यह चेतोमुख है। अथवा स्वप्न आदि की प्राप्ति के लिए ज्ञान स्वरूप चित्त ही इसका द्वार यानी मुख है, इसलिए यह चेतोमुख है। भूत, भविष्यत का तथा सम्पूर्ण विषयों का ज्ञाता यही है, इसलिए यह प्राज्ञ है। सुषुप्त होने पर भी इसे भूतपूर्व गति से 'प्राज्ञ' कहा जाता है। अथवा केवल प्राज्ञप्ति (ज्ञान) मात्र इसी का असाधारण रूप है, इसलिए यह प्राज्ञ है, क्योंकि दूसरों को (वि'व और तैजस) तो वि'षा ज्ञान भी होता है। इस प्रकार यह प्राज्ञ ही तीसरा पाद है।

i kK dk | oLkj .kRo %

आत्मा के तीसरे पाद (अं"ी) प्राज्ञ के सर्वकारणत्व को उपनिषद् इस प्रकार बताती है— यह सब ई"वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है और समस्त जीवों की उत्पत्ति तथा लय का स्थान होने के कारण यह सबका कारण भी है—**एश सर्वेश्वर एश सर्वज्ञ एशोन्तर्याम्येश योनिः ।** oL; i Hkoki; ; kS fg HkirkukeAA %ekj m] 1@6%  
अपने स्वरूप में स्थित यह प्राज्ञ ही सर्व"वर है, अर्थात् अधिदैव के सहित सम्पूर्ण भेदसमूह का ई"वर—ई"ान ("ासन) करने वाला है। ^i k.kcU/kua fg | kE; eu%\* %Nkj] m0 6@8@2% अर्थात् हे सोम्य! यह मन (जीव) प्राण (प्राणसंज्ञक ब्रह्म) रूप बन्धनवाला है। इस श्रुति से अन्य मतावलम्बियों के सिद्धान्तानुसार (सर्वज्ञ परमे"वर) इस प्राज्ञ से कोई विजातीय पदार्थ नहीं है। सम्पूर्ण भेद में स्थित हुआ यही सबका ज्ञाता है, इस लिए यह सर्वज्ञ है। अतएव यह अन्तर्यामी अर्थात् समस्त प्राणियों के भीतर अनुप्रविष्ट होकर उनका नियमन करने वाला भी यही है। इसी से पूर्वोक्त भेद के साथ सारा जगत् उत्पन्न होता है, इसलिए यही सबका कारण है। यही समस्त प्राणियों का उत्पत्ति और लय स्थान भी है।

, d gh vkRek ds rhu Hkn %

वि"व प्राज्ञ और तैजस ये तीनों एक ही आत्मा के अलग—अलग रूप हैं इसी को उपनिषद् में इस प्रकार बताया गया है— विभु वि"व बहिष्प्रज्ञ है, तैजस अन्तःप्राज्ञ है तथा प्राज्ञ घनप्राज्ञ (प्रज्ञानधन) है। इस प्रकार एक ही आत्मा तीन प्रकार से कहा जाता है—**बहिष्प्रज्ञो विभुर्विशवो ह्यान्तःप्राज्ञस्तु तैजसः । धनप्राज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ।।** %ekj m] 1@1%

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि क्रम"ी: तीन स्थानों वाला होने से और 'मैं वही हूँ' इस प्रकार की स्मृति द्वारा अनुसंधान किया जाने के कारण आत्मा का तीनों स्थानों से पृथक्त्व, एकत्व, शुद्धत्व और अंसगत्व सिद्ध होता है, जैसा कि महामत्स्यादि दृष्टांत का वर्णन करने वाली श्रुति बतलाती है।

**विश्वादि के विभिन्न स्थान :**

आत्मा के तीनों पादों (अं"ी) की व्याख्या के बाद अब उनके विभिन्न स्थितियों में विभिन्न स्थानों को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि दक्षिण नेत्ररूप द्वार में वि"व रहता है, तैजस मन के भीतर रहता है, प्राज्ञ हृदयाकाश में उपलब्ध होता है। इस प्रकार यह (एक ही आत्मा) शरीर में तीन प्रकार से स्थित है—**दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्ता** rSt | %A vkdk' ks p âfn i kKfL=/kk ngs 0; ofLFkr%AA %ekj m] 1@2%

दक्षिण नेत्र ही मुख (उपलब्धि का स्थान) है, उसी में प्रधानता से स्थूल पदार्थों के साक्षी वि"व का अनुभव होता है। ^bu/kks g oS ukeSk ; ks a nf{k.k.kU i q "k%\* (श्रु] 4/2/2) अर्थात् यह जो दक्षिण नेत्र में स्थित पुरुष है 'bu/k' (जो जागरित अवस्था में स्थूल पदार्थों का भोक्ता होने के कारण इद्ध—दीप्त होता है) नाम से प्रसिद्ध है इस श्रुति से भी यही प्रमाणित होता है। दीप्तिगुणवि"ष्ट वै"वानर को 'इन्ध' कहते हैं। आदित्यान्तर्गत वैराजसंज्ञक आत्मा और नेत्रों में स्थित साक्षी — ये दोनों एक ही है। ^, dks nD% | oHkrs'kq %oj m] 6@11% अर्थात् सम्पूर्ण भूतों में एक ही देव छिपा हुआ है। इस श्रुति से तथा ^ks=Ka pkfi ek fof) | oLks='sq Hkkj r\*\* %xhkrk 13@2% अर्थात् हे भारत! समस्त क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही जान, अथवा ^vfoHkDr p Hkrs'kq foHkDrfeo p fLFkre\*\* %xhkrk 13@16% अर्थात् वह वस्तु विभक्त न होकर भी विभक्त के समान स्थित है, इत्यादि स्मृतियों से भी यही बात सिद्ध होती है। सम्पूर्ण इन्द्रियों में समान रूप से स्थित होने पर भी दक्षिण नेत्र में उसकी उपलब्धि की स्पष्टता देखने से वही वि"व का वि"ष रूप से निर्दे"ा किया जाता है।

दक्षिण नेत्र में स्थित जीवात्मा रूप को देखकर फिर नेत्र बन्द कर मन में उसी का स्मरण करता हुआ वासना रूप से अभिव्यक्त, उसी रूप का स्वप्न में उपलब्ध की तरह दर्शन करता है। जिस प्रकार इस अवस्था में होता है ठीक वैसा ही स्वप्न में होता है (इसलिए यह जाग्रत में स्वप्न ही है) अतः मन के भीतर स्थित तैजस भी वि"व ही है।

दर्शन और स्मरण ही मन का स्फुरण है, उनका अभाव हो जाने पर जो जीव का हृदय के भीतर ही निर्वि"ष प्राण रूप से स्थित होना है (वही जाग्रत में सुषुप्ति है) ^i k.kks âkbs'rkU i oMUDrs\*\* %Nkj] m] 4@3@3% अर्थात् प्राण ही इन सबको अपने में लीन कर लेता है। इस श्रुति से यही प्रमाणित होता है। मनः स्थित होने के कारण तैजस ही हिरण्यगर्भ है। ^fyx eu%\* %i] m] 4@4@6% अर्थात् (सत्रह अवयव वाला) लिंगरूप eu eukæ; ks a i q "k% %C] m] 5@6@1% यह पुरुष मनोमय है, इत्यादि श्रुतियों से भी तैजस और हिरण्यगर्भ की एकता सिद्ध होती है।

उस सदब्रह्म में प्राण शब्दत्व और 'सत्' शब्द का वाच्यत्व माना गया है। यदि यहाँ 'सत्' शब्द से निर्वीजब्रह्म कहना इष्ट हो तो उसे ^ufr ufr\*\* %C] m] 4@4@22 & 4@5@15% अर्थात् यह नहीं है यह नहीं हैं तथा ^; rks okpks fuorUrs\*\* %r] m] 2@9% अर्थात् जहाँ से वाणी लौट आती है, ^vU; nD rkf}fnrknFkks vfofnrkr\*\* %cl0 m0 1@3% अर्थात् वह विदित से अन्य है और अविदित से भी ऊपर है, इत्यादि प्रकार से कहा जायेगा जैसा कि ^u | rUukl nP; rS\*\* %xhkrk 13@12% वह न सत् कहा जाता है और न असत् इस स्मृति से भी यही सिद्ध होता है। ^v{kj kRi jr% ij\*\* %ekj m] 2@1@2% अर्थात् वह 'पर' अक्षर से भी पर है, ^l ckgkH; Urjks ât\*\* %ekj m] 2@1@2% अर्थात् वह बाह्य (कार्य) और अभ्यन्तर (कारण) के सहित (उनका अधिष्ठान होने के कारण) अजन्मा है। "यतो वाचो निवर्तन्ते" "नेति नेति" इत्यादि श्रुतियों द्वारा शुद्ध ब्रह्म का निर्दे"ा बीजवत्त्व को निरा"ा करके ही किया गया है। बीजावस्था भी जाग्रत होने पर मुझे कुछ

भी पता नहीं रहा' ऐसी प्रतीति देखने से शरीर में अनुभव होता ही है। इसी से 'वह शरीर में तीन प्रकार से स्थित है' ऐसा कहा गया है।

वि"व तैजस और प्राज्ञ इन तीनों के भोक्ता और भोग्य के ज्ञान का फल क्या होता है इसे बतलाते हुए आचार्य कहते हैं: (जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति-इन) तीनों स्थानों में जो भोग्य और भोक्ता बतलाये गये हैं – इन दोनों को जानता है, वह (भोग्य को) भोगते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता-त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः। *onfnhk; a ystus s bhujjanō n lipyate ॥*

*vkRek dk prfkz i kn&^rjh; \*%*

आत्मा के चतुर्थ पाद का वर्णन करते हुए उपनिषद् कहती है कि वह चौथा पाद (अं"ी) तुरीय सम्पूर्ण शब्दप्रवृत्ति के निमित्त से रहित है, अतः शब्द से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसलिए श्रुति (अन्तः प्रज्ञत्व आदि) वि"ीष भाव का प्रतिषेध करके ही उस तुरीय का निर्दे"ी करने में प्रवृत्त होती है।

शंकराचार्य कहते हैं कि श्रुति का ज्ञान होने पर जिस प्रकार (उस में आरोपित) चाँदी की तृष्णा नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार तुरीय हमारी आत्मा है- ऐसा ज्ञान होने पर वह अनात्म सम्बन्धिनी तृष्णा को निवृत्त करने का कारण होता है। तुरीय को अपनी आत्मा जान लेने पर अविद्या और तृष्णा आदि दोषों की सम्भावना नहीं रहती। और तुरीय को अपने आत्म स्वरूप से न जानने का कोई कारण भी नहीं है, क्योंकि *^rUoefl \*\* %NKj m] 6@8@16% ^v; ekRek cā \*\* %c] m] 2@2@19% ^rRi R; a | vkRek\*\* %NKj m] 6@8@16% ^; Ri k{kkn+i jk{kknēā \*\* %c] m] 3@4@1% ^ okákH; Urjks álu%\* %e] m] 2@1@2% ^vkRebna | oē~\* %NKj m] 7@25@2%* इत्यादि समस्त उपनिषद् वाक्यों का पर्यावसान इसी अर्थ में हुआ है।

*fu"d"kl %*

इस प्रकार माण्डूक्योपनिषद् में यह आत्मा परमार्थ और अपरमार्थ रूप से चार पाद (अं"ी) वाला है – तथा उसका वीजांकुर स्थानीय पादत्रय स्वरूप अपरमार्थ रूप रज्जू सर्प आदि के समान अविद्या जनित कहा गया है। अपने वि"ुद्ध स्वरूप में यह आत्मा ब्रह्म ही हैं जो निर्गुण, निराकार, निष्प्रपंच होने के साथ-साथ सच्चिदानंद स्वरूप हैं। इसका यही रूप तुरीयावस्था है, इसके पूर्व की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं में आत्मा क्रम"ी: वि"व, तैजस व प्राज्ञ रूप है। इस प्रकार आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्यकारिका में आत्मा के चतुष्पाद स्वरूप का सम्यक विवेचन किया है जो श्रुति सम्मत है।

*l nHkz xjFk %*

1. केनोपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर
2. छान्दोग्य उपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर
3. तैत्तिरीय उपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर
4. प्रश्नोपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर
5. त्रिपाठी रमाकान्त ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य (2009) वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार उ० प्र० हिन्दी संस्थान लखनऊ
6. बृहदारण्यक् उपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर
7. माण्डूक्य उपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर
8. माण्डूक्यकारिका शांकर भाष्य, गीता प्रेस गोरखपुर
9. मुण्डकोपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर
10. श्वेताश्वतर उपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर
11. श्रीमद् भागवद गीता, गीता प्रेस गोरखपुर